

क्रीतदास

गायत्रीबाला पंडा

क्रीतदास से मिली थी वह पहली बार
दस या ग्यारह साल की उम्र में
पढ़ाईवाले कमरे की ताक में रखी
फटी जिल्दवाली पुरानी किताब के पीले पड़े पन्नों पर
टॉम काका की कुटिया में ।

न जाने कितनी रातें बीत गईं
वह बैठा रहा
उस कुटिया की दीवार से टिका
निश्चल, निर्वाक
उन पात्रों ने घेर रखा था उसे ।

किसी के आँसुओं में
किसी की सुबकती रुलाई में
किसी के झिझकभरे रोने में
साँस लेते वक्त
किसी के घरघराते हृत्स्पंदन में
किसी के गुमशुम ताकते रहने में
किसी की लंबी साँसों को
दबाने की कोशिश में

उसकी रातें खो गईं
व्याकुल विवशताओं में ।

टॉम काका की कुटिया ने
उसे वयस्क बना दिया था या
खुद ही वयस्क बन जाने के भय ने
उसे संकुचित कर दिया
दुनिया के आगे
और समय के आगे
और संभावनाओं के आगे !

या वे क्रीतदास बस गए
थोड़ी-थोड़ी-सी जगह लेकर
उसकी आत्मा में
स्थिर, सुरक्षित
या किसी दिन उसे खुद ही हुआ अहसास
क्रीतदास की जिंदगी जीने का
अति स्वाभाविक रूप से !

ये सब दिखाई नहीं देते सहज ही
यदि कहा भी जाए किसी से
वह मज़ाक उड़ाएगा क्योंकि
सिर्फ चीकट काले लोगों को ही
क्रीतदास की संज्ञा दी गई है दुनिया में ।

पुरुष के जुल्म के आगे
पुरुष की मर्जी से
साँस ले रही एक औरत
अपने आँसुओं में
अपनी सुबकती रुलाई में
अपने झिझकभरे रोने के साथ
साँस लेते वक्त अपने
घरघराते हृत्स्पंदन में
अपने गुमशुम ताकते रहने में
अपनी लंबी साँसों को दबाने कोशिश में

अपनी खोयी हुई रातें
अपनी खोती जा रही कांति, अपनी उम्र
क्या दिखाई देते हैं सहज ही किसी दूसरे को !

बल्कि उसे त्याग और सहनशीलता की देवी
कहा जा सकता है प्रसंगवश ।

और पुरुष के मन के
काले चीकट रंग,
अंहकार, औधित्य और पाशविकता को
मर्दानगी समझा जाता है चराचर में ।

काले लोगों का दुख उनकी यातनाएँ
ही तो लिखी गई हैं टॉम काका की कुटिया में
जिनकी गिनती होती है क्रीतदासों में

यंत्रणा से बिंधती
मुँह सिले जी रही उस औरत की पीड़ा का
उल्लेख नहीं मिलता कहीं

यह तो आम बात है दुनिया में ।

.....

अनुवाद : डॉ. राजेंद्र प्रसाद मिश्र
मो.नं. 0965099 0245

खो जाती हैं लड़कियाँ

गायत्रीबाला पंडा

न जाने कैसे खो जाती हैं लड़कियाँ
खो जाता है कुँआरापन
खो जाता है आँखों की पुतलियों में उगता सूर्य
खो जाता है कलकल करता रक्तस्रोत
खो जाते हैं जीने के मायने

न जाने कैसे !

न जाने कैसे खो जाते हैं कन्याभ्रूण
गायब हो जाते हैं माँ के जरायु से
जमीन छूने से पहले
सहज, स्वाभाविक ।
रात अब बीती तब बीती, बीतती नहीं है
पूरे जीवकोष में फैल रही है यंत्रणा
समा रही है मन में, बिंध जाती है भाग्य में,
किसीको दिखता नहीं ।

न जाने कैसे खो जाती हैं युवतियाँ
वोटर लिस्ट में नाम होने ना होने से
कोई फर्क नहीं पड़ता सरकार को
हरे भरे खेतों में फैले टिड्डियों के
पैरों के निशान हैं हर जगह, समय है बेखबर
रोज़मर्रा—सी दुनियाँ है,
अपनी रफ्तार से चलती ।

सिर्फ खोती जा रही हैं
कन्याभ्रूण, लड़कियाँ, युवतियाँ ।
पृथ्वी पर स्वाभाविक उदय अस्त सूर्य का
गर्भगृह में निर्विकार ईश्वर
प्रशासन की लालफीताशाही तले
फफूँदा लग रहे कागज क्रमशः अस्पष्ट, मूल्यहीन
रास्ता—घाट में सुशासन के रोचक विज्ञापन

आदर्श को कुरेदकर
खाती रहती है विवेकहीनता ।

लड़कियों का खोना
कोई बड़ी बात नहीं दुनिया में
फूल जैसे झड़ जाता है वृंत से
जैसे कोई सोता सूख जाता है फूटते-फूटते
जैसे कोई जंगल जल जाता है चिनगारी से
जैसे कोई बम फूट जाता है उदग्र इच्छा से

उसी तरह लड़कियाँ
असमय छिटक पड़ती हैं कक्ष-पथ से
या अचानक खो बैठीं कांति
या बिना तर्क के दे दी गई बलि
कामनाओं की चिता पर
उसे स्वाभाविक मानलिया जाता है सहज ही ।

लड़कियों को
फूल
या झरना
या पेड़
या बम
कोई कैसे भी सजा सकता है उपमाओं में ।

उसी तरह लड़कियाँ भी
सुगंध बाँटने से लेकर तबाह होने तक
महकती रहती हैं, चहकती रहती हैं ।

आग शोले बनने से पहले ही
न जाने कैसे खो जाती है,
खोती चली जाती हैं ।

लड़कियाँ क्यों इस तरह
खो जाती हैं,
खोती चली जाती हैं ।

.....

अभी भी है मेरे अंदर

प्रचुर दया
प्रचुर दंभ
प्रचुर द्रोह
प्रचुर दुख ।

जिंदगी और मौत को
साथ लेकर
राह चलना
कैस संभव है !
पूछता है वर्तमान ।

तमाम झाड़ झंखाड़
ऊबड़-खाबड़, पहाड़-पर्वत
सँकरी घाटियाँ, नदी-नाले
पार करना क्या इतना आसान है
पूछ रहा है मेरा मन ।

दिशा बदलने में
मैं कतई धुरंधर नहीं
बल्कि काँटा निकालकर ऍँड़ी से
पोंछ सकती हूँ पैर
पी सकती हूँ सिसकियाँ ।

आसमान में तुसैं हैं तारे
पेड़ पर पत्ते, फूल, फल
जमीन पर चींटियों की कतारें
तिस पर मेरे दो डग
कभी लड़खड़ाते तो कभी स्थिर ।

मौत भी होती है जिंदगी—सी
अनिवार्य और अमृतमय
सुंदर और समांतर ।

बीतता जा रहा है समय
जो कुछ सीखा, जैसे सीखा
ढाल न सके खुद को उसमें तो समझो

बदनामी निश्चित है ।

जीवन, अभिनव आश्चर्य का
अदृश्य अखाड़ा है ।

.....

एक घोड़े के बारे में

गायत्रीबाला पंडा

एक घोड़ा दौड़ रहा है तेज रफ्तार से
धड़क उठता है मेरा अभ्यंतर घोड़े के टापों से
मैं नाकामयाब हूँ उसे काबू करने की कोशिश में ।

एक दिन उस घोड़े को गढ़ा था
अपनी ही लाचारी और मूर्खता से
चित्र आँकने के अभ्यास से
गढ़ गया था वह घोड़ा
आकार लिया था उसने
मेरे अंदर की दबी प्यास से
रुद्ध प्रतिरोध से, उत्कंठा से
जबकि कहीं-कहीं जिद्द की छाप भी थी उसमें
घोड़ों की तरह अति सामान्य रूप से ।

क्या कोई घोड़ा
गढ़ा जा सकता है इस तरह !
किसी-किसी के सवाल और विस्मय
रहस्यभरी निगाह और है समय के सामने ।

मैंने कहा
सिर्फ घोड़ा ही नहीं
तरह-तरह के जीव-जंतु
आकार ले सकते हैं
विरक्ति और विषाद से
विद्रोह और विव्रतबोध से
विनम्रता और विवशता से
विस्मय और विलाप से
जैसेकि खरगोश, कछुआ, हिरण या हाथी
श्वान, सियार, जिराफ और जेब्रा,
यहाँ तक कि बाघ और सिंह भी ।

हाथ में बर्छा उटाने की जरूरत नहीं
जरूरत नहीं बम या बंदूक की
अपनी खामोशी में
जीवन्यास लेनेवाला पशु ही
खूँखार और अति भयानक होता है ।

लोगों ने सुना, लोगों ने कहा
तब तो बाघ या सिंह की तुलना में
घोड़ा ही अच्छा है
तृणभोजी और शाकाहारी
पर जिद्दी और उद्धत होता है
कभी-कभी अनियंत्रित उच्छृंखल भी ।

मेरी लाचारी और मूर्खता से
जन्म लेनेवाला वह घोड़ा
सचमुच मुझे आक्रांत करने लगा है
अपनी उच्छृंखलता से
मैं टूटकर चूरचूर हो सकती हूँ
किसी भी पल, उसके दौरात्म्य से ।

लोग समझाते हैं मुझे,
घोड़ा नहीं जानता पृथ्वी गोल है
दौड़ते-दौड़ते आकर पहुँच जाएगा,
फिर से प्रारंभ बिंदु पर।
शायद धराशायी हो लोट जाए ज़मीन पर
थककर चूर होने पर ।

पाठकों !
क्या लोगों की बातों पर
किया जा सकता है विश्वास
सहज ही !

आसान नहीं इतिहास लिखना

गायत्रीबाला पंडा

नहीं । इस बार भी नहीं हुआ ।
इतिहास लिखने बैठने पर
घुस आते हैं मेरी आत्मा में
अथाह पीड़ा और प्रलाप
पश्चाताप और पाप
हताशा और अभिशाप
क्षय-क्षति और आँधी-तूफान
घबराई-सी मैं, रुआँसी और उदास ।

रक्त जर्जर कुछ शब्दों से
कैसा विलास !
काल के होठों पर मंद-मंद मुस्कान ।

भीगी दीवार के नीचे
दफन हो गए जो स्वर
रणक्षेत्र में दबकर
सड़-गल गए जो शरीर
सूर्योदय की प्रतीक्षा में
बीत चुका जो युग
खून-पसीने की बाढ़ में
बह गया जो वीर्य
उसीको ढूँढ़ रही हूँ मैं
वन, पहाड़, मैदान,
अपनी आत्मा के कोने-कोने में
हर जगह हैं, मेरे लँगड़ाते सपनों के अवशेष
स्थिर अफसोस ।

इनके बिना कैसा इतिहास !
होंठ खोलता है मध्यवर्ग तो
थक्के-थक्के कफ, पित्त, रक्त

असीम क्लेश ।

कैसा इतिहास लिखूँ !
स्वर मांग रहा पंचम तान
मृतक कहता है दो जीवनदान
युग मांग बैठता है अच्छे दिन
वीर्य पूछता है अपना नाम !

आसान नहीं इतिहास लिखना
स्फुलिंगों को कतार दर कतार सजाना
क्रम से
आँसू, पसीना, पाप, अन्याय, अविचार को
हूबहू बदलना शब्दों में, वाक्यों में
आसान नहीं असामान्य बातों को
सामान्य करके पहचान कराना
रास्ता-घाट में
इतना आसान नहीं
लज्जा से जर्जर घाव से आवरण हटाकर
फेंक देना बीच बाज़ार में ।

पर इतिहास लिखने की सरल राह के पीछे
मैं दौड़ रही हूँ चिलचिलाती दोपहर में बदहवास
साइकिल का पैडल मारते,
उद्ग्रीव, पसीने से लथपथ,
शहर की सबसे साफ जगह पर उड़ेल दूँगी
सारी असुंदर घटनाएँ, घृणा
प्रतिवाद, आर्त्तनाद, यंत्रणा
चाहती हूँ नींद उचट जाए समय की
निस्पृहता टूट जाए पृथ्वी की ।

हाँ, मुझपर नशा सवार है
मैं भाषा ढूँढ़ रही हूँ लिखने को इतिहास ।

केवल स्पर्श में नहीं
स्पंदन में बदलने के लिए
जरूरत होती है जिस भाषा की,
केवल आँखों की पुतलियों में नहीं
अँतड़ियों में रहने के लिए
जरूरत होती है जिस भाषा की
केवल किताबी पन्नों में नहीं
विवेक में रहने के लिए
जरूरत होती है जिस भाषा की ,
ठीक वही भाषा मैं ढूँढ़ रही हूँ
लिखने को इतिहास ।

इतिहास मनगढ़त कहानी नहीं
मायाजाल नहीं
म्यूज़ियम नहीं
जीवंत और भयानक सत्य की एक दलील है
हृदय की तह में
धीरे-धीरे सुलगता
कुछ जीवाश्म है ।

काफी वक्त हो गया
मैं सिर्फ इतना कहना चाहती हूँ

इतिहास लिखना आसान नहीं
मैं जानती हूँ ।

.....

नारी जब कविता लिखती है

गायत्रीबाला पंडा

नारी जब कविता लिखती है
कुछ शब्द फूल बन खिल जाते हैं तो
कुछ बन जाते हैं अंगारें।

पल्लू में भर पल्लू फूल लिए
नारी जब कविता लिखती है
दुनिया तिरछी नजरों से देखती है
उसकी मंद-मंद मुस्कान से
हीनता के पंख टूटकर
पूरे खंडमंडल में मंडराते हैं ।

पल्लू में भर पल्लू अंगारे लिए
नारी जब कविता लिखती है
दुनिया की विस्फारित आँखों से
छिटक जाता है क्रोध, कोलाहल
समय की शिरा-प्रशिराओं में विष हलाहल ।

नारी जब कविता लिखती है
ऐ पृथ्वी! तब क्यों दरक जाती हो, चटक जाती हो!
ऐ आकाश ! क्यों बटोर लाते हो काले बादल
ऐ समुद्र ! किस गर्जना से काँप उठता है
सचमुच तुम्हारा अभ्यंतर !

नारी जब कविता लिखती है
उसके भीतर मर्त्य, पाताल, आकाश एकाकार हो जाते हैं
उसके भीतर दो दुनिया गतिशील रहती हैं
स्वाभाविक और समानांतर
एक में प्रेम, प्रार्थना और प्रतिबद्धता होती है
तो दूसरे में शब्दों के पीछे भागमभाग ।

नारी जब कविता लिखती है
पीड़ा से पीड़ा टकराने पर बन जाते हैं अंगारे ।

एक बेटी, एक पत्नी, एक माँ
तब भी सजग रहती है उसके अंदर चिरकाल ।

नारी जब कविता लिखती है
अँधेरा भरे आकाश के नीचे
दीपक बन ज़लती है
जितनी छटपटाहट सहेजे रखती है
वह अपनी आत्मा में
उससे अधिक बाँटती रहती है
श्रद्धा और संवेदना
दुनिया की उदासीनता में
फिर भी रह जाती है वह ।

पनालों की दुर्गंध फैले परिवेश में
वह नारी फूल बन खिलती है
अकाल, अनाहार घिरे होने के बावजूद
आस्था और आश्वासन बाँटती है ।
वीभत्स वासना और लालसा के सम्मुख
छिन्नमस्ता बनती है
जो घास-फूस नहीं लग पाए नीड़ बनाने में
उन्हीं को लेकर
दृढ़ आत्मविश्वास से अपना एक नीड़ बनाती है ।

नारी जब कविता लिखती है
वह सिर्फ प्रेम में जीती है यह किसने कहा
उसमें प्रेम से अधिक होती है पीड़ा
दावे से अधिक होता है समर्पण
जब तुम उसका चरित्र संहार करते हो
उसके होंठों पर होती है स्मित मुस्कान
तुम्हारा आरोप उसे विपन्न, विध्वस्त नहीं

बल्कि विस्मित ही करता है
तुम्हारी नासमझ उसे विरक्त, विषादमय नहीं
बल्कि स्थिर, संगठित करती है ।
तुम्हारी इतर दृष्टि उसे उद्विग्न, उत्तेजित नहीं
क्षमाशील और दयालु बनाती है ।

नारी जब कविता लिखती है
न वह नारी होती है, न पुरुष
न पाप होती है, न पश्चाताप
न उद्देश्य होती है, न उत्ताप
वह महज़ एक स्पंदन होती है
पृथ्वी पर कहीं भी हलचल होने पर
वह काँप उठती है ।

नारी जब कविता लिखती है
बार—बार टोकर खाने के बावजूद
माटी में अंकुरित हो जाती है
आकाश की ओर बढ़ती चली जाती है ।

.....

भा-ना को ढूँढते हुए
मैं पहुँच जाती हूँ
अतीत के अरण्य में ।

वहाँ बैठे होते हैं युग
जैसे बैठे होते हैं गाँव के पंच
बरगद के नीचे चबूतरे पर
या मंदिर के अहाते में

सबके सिर पर बँधी है पगड़ी पंच होने की
सबकी आँखों में चमक रही थी स्पर्धा, पुरु-त्त्व की
सबकी नसों में था दुनिया को चला ले जाने का साहस
सबके दिल में एक-दूसरे के लिए श्रद्धा और विश्वास ।

आदिकाल से लेकर आधुनिक, उत्तर आधुनिक युग
सबको मैं करती हूँ जोहार ।

भा-ना के आगे सिर झुकाती हूँ मैं
क्योंकि भा-ना पर भरोसा करना सीखा है मैंने जन्म से
मुझे सिखाया गया है भा-ना को मर्यादा देने का अर्थ है
मर्यादा देना अपनी माटी को, अपनी माँ को
भा-ना से प्यार करने का अर्थ है
संचरित हो जाना सौहार्द में ।

भा-ना को अंतस्थल में रोपने का अर्थ है
अपने भीतर धारण करना वाक्-ब्रह्मांड को ।

अतः भा-ना को ढूँढते हुए डोल रही हूँ
अरण्य, झाड़ियाँ, जनपद, बस्ती
पहुँच जाती हूँ सिनेमा हॉल में, नाट्यमंच पर
मंदिर में, सभा-समितियों और कचहरियों में
दफ्तर में, विद्यालय में, अस्पताल में
पहुँच जाती हूँ कोयले की खान में
बम गोले बरसते सीमांत पर
सचिवालय की फाइलों के करीब ।

उठा लाती हूँ झुंड के झुंड शब्द, उनका प्रयोग
उठा लाती हूँ प्रार्थना के पद
किसी का क्रोध, अभिमान
कहीं से लाती हूँ बच्चे की तुतलाहट तो कहीं से सिहरण
कहीं से स्थिर निगाह और लंबी उँसासों की छटपटाहट
यहाँ तक कि मौन भी एक सुंदर भा-ना है
तरह-तरह से हलचल पैदा करता है हृदय में
कभी उच्चाट करता है तो कभी उद्विघ्न।

भा-ना को ढूँढ़ते-ढूँढ़ते जा पहुँचती हूँ मैं इंसान के पास
भा-ना खोती जा रही है इंसान से
या इंसान खोता जा रहा है भा-ना से ।

मैं उलझन में पड़ जाती
दौड़ने-फलाँगने लग जाती ।

कवि

गायत्रीबाला पंडा

जहाँ-जहाँ ठोकर खाती हूँ
वहीं से शुरू होती है कविता ।

कविता का अर्थ
समय के बाघ-सा
अकारण झपट्टा मारना है
कविता का अर्थ
खत्म न हो रहे जंगल का घुप्प अंधेरा है
कविता का अर्थ
टुकड़े-टुकड़े हो टूट जाना है आकाश का
कविता का अर्थ
उन सभी निगाहों का धुँधला कुतूहल हूँ ।

जहाँ-जहाँ ठोकर खाती हूँ
वहीं से शुरू होती है कविता
गुच्छे-गुच्छे शब्द,
शब्दों की इधर-उधर दौड़-भाग
मलिन न पड़ती धूप
सुनसान लंबी राह, जीवन की ।

कोई कहता है इस कविता में
उन लोगों की बातें नहीं हैं
उजड़ते जा रहे हैं जिनके घर-द्वार
जो लोग जमीन, जल और जंगल के लिए
लड़ रहे हैं, मर रहे हैं, इतिहास रच रहे हैं
जो बिना सींग के माटी खोदते हुए
अकाल में ही माटी बनते जा रहे हैं ।
उनकी भूख-प्यास
दुःख यातना, आँसू कीचड़
यदि कविता नहीं बन सकती
वह कविता कविता नहीं
शब्दों की आतिशबाजी है ।

समाज को सुधारने का काम कविता का नहीं
कवि प्लेकार्ड लेकर खड़ा नहीं होता राजमार्ग पर

धनु-बाण लेकर शरीक नहीं होता आंदोलनों में
नहीं उठाता बंदूक
नहीं भाँजता तलवार
घर्घर नाद करता कँपाता नहीं धरती
-इयंत्र या श्लोगन नहीं बनता
किसी के पक्ष या विपक्ष में
खड़ा नहीं रहता रणभूमि में ।

कवि जो कुछ करता है सिर्फ कविता में
कवि जो कुछ कहता है सिर्फ कविता में
कवि कविता में जीता है
कविता में मरता है
कविता में क्षोभ परोसता है
कविता में शोक पालता है ।

दिल्ली में हुए कुकर्म का दुख कवि भोगता है
पिपिली पीड़िता की बेचैनी कवि को उद्वेलित करती है
कलिंगनगर की कटी हथेली देख
विचलित हो उठता है कवि
कंधमाल की आग की आँच से भी
आग-बबूला हो जाता है कवि
कवि नंदीग्राम से नारायणपटना जाता है
खुद को बिछा देता है घटनाओं के बीच
उसकी आत्मा अवश्य पहुँच गई होती है
मृत कपास किसान के द्वार पर
वह हतप्रभ पड़ा रहता है
महाकालपड़ा गाँव की पीड़िता की दुर्दशा में
ना तो वह राजनीति में होता है
ना ही सामाजिक कार्यकर्ताओं के समूह में ।

पर वह सबकुछ देख रहा होता है
आक्रांत हो रहा होता है
हो रहा होता है ध्वस्त-विध्वस्त
शर्मसार, मर्माहत ।

हर बार ध्वंस स्तूप के नीचे
बटोर रहा होता है संभावनाएँ सूर्य-सा
कुछ उगे या न उगे
संभावनाओं के आकाश में
तब भी वह उपजाता है संभावनाएँ ?

कवि विवरणकार नहीं
जो शब्द तुरंत उतर आते है कागज पर
उन्हीं को ऊपर-नीचे सजाता है
गढ़ता है, तोड़ता है, तोड़ता है, गढ़ता है
शंख, चक्र, गदा, पद्म लेकर खड़े होने के
कौशल में खर्च नहीं करता समय-असमय ।

मन ठीक न हो तो
सुनसान नदी के किनारे-किनारे डोल सकता है
चिलचिलाती धूप में हो या आधी रात में
उसके पदचिह्न पड़े होते हैं गीली रेत पर

कुछ क्षण रहते हैं
फिर मिट जाते हैं ।

कुछ ही क्षणों में ।

मोहनजोदड़ो

गायत्रीबाला पंडा

इतिहास का पारावार
बड़ा दु-कर है ।

जैसे यह मोहनजोदड़ो
कभी विस्मय में तो
कभी जबरन
बहकर चला आता है
अन्यमनस्कता में मेरी ।

इतिहास शिक्षक की घड़घड़ाती आवाज में
एक दिन निकल आया मोहनजोदड़ो

जब क्लास की प्रथम पंक्ति में बैठी
मैं छुपाकर पढ़ रही थी उपन्यास
गुलशन नंदा का ।

वे लोग निकले थे प्राचीन प्रस्तर-युग से
इस बीच आ पहुँचे थे
मोहनजोदड़ो के विशाल स्नानागार तक
मैं रुक गई थी उपन्यास के पंचानबे पन्ने पर
शायद उस प्राचीन प्रस्तर-युग का
एक पत्थर आकर धँस गया मेरे मन में
खून से सराबोर मैं, भय से, चिंता से ।

उस विशाल स्नानागार की सीढ़ियाँ चढ़ने लगे हम
इतिहास शिक्षक एक बेंत लिए आगे-आगे तो
हम बयालीस छात्र उनके पीछे-पीछे
स्नानागार से लेकर शस्यभंडार और रास्ता-घाट
नगर सभ्यता घूमकर देखते समय
मैं ठहर गई थी उसी प्राचीन प्रस्तर-युग में ।

मैंने पत्थर से पत्थर घिसकर चमकाई आग
जिस आग की जरूरत पड़ती है
भूख और क्षोभ मिटाने के लिए
पत्थर फेंककर जीव-जंतुओं की हत्या करने-सा

पत्थर फेंकने लगी प्रत्याशा और प्रवणता की ओर
पत्थर से कूच-कूचकर आकार दिया अस्मिता को
पत्थर से गड्ढा खोदकर गाड़ दिया
आत्मा का अंधेरा ।

हड़प्पा, लोथाल और कालीबांगन पारकर
सिंधु नदी के किनारे-किनारे
अब भी चल रहे थे इतिहास शिक्षक
और हम बयालीस छात्र ।

एक जगह रुककर शिक्षक ने कहा
मोहनजोदड़ो !
मोहनजोदड़ो !

मैंने चौंकते होते हुए देखा
नाचते-नाचते पत्थर बन गई वह लड़की
जो 'डांसिंग गर्ल' है
पुरातत्वविद की भा-ना में ।

कोई नहीं जानता
मैं कब मूर्ति बन गई !

सरकार

गायत्रीबाला पंडा

रुपए किलो चावल
किसान के हाथ मोबाइल
ऐसी नानाविध सुविधाओं का नाम
सरकार है ।

समय की फटी ऍंड़ी में
बूँद भर गर्म तेल है, सरकार
क्षणभर के लिए जिंदगी
भूल जाने का समय ।

इसी वक्त क्यों मन में समा जाते हैं
असंख्य नाम, वोटर लिस्ट के !
मरे हुए या जिंदा, बाद में विचारेंगे ।

मान लो यह कविता
जारपा के सिक्का मुगुरी के लिए है
जिसने नियमगिरि में
खान खोदने के लिए
किया था विरोध सरकार का
सभा-समितियों में मचाया था शोर
बोला, नियमगिरि हमारा है ।
केंदू, कांदा, डूमा, उंगर
हमारे हैं, हमारे हैं, हमारे हैं
आँखें छलछला आईं नियमगिरि के देवता की
सरकार हुई क्रोध जर्जर ।

मान लो यह कविता
खरिनासी की सुजाता बैरागी के लिए है
स्कूल के रास्ते से जिसे
उठा ले गए बर्बर दल,
बलात्कार के बाद जला दिया
इतिहास फिर से हुआ
खून से लथपथ, शर्मसार ।

मान लो यह कविता

तीसरी कक्षा की वनिता कहँर के लिए है
नाकटीदेवल गाँव की वह लड़की
जो दाल के हाँड़े में गिरकर खौल गई
और मर गई असमय
एक और नाम चढ़ गया
'मिड डे मिल' खाकर
बेमौत मरनेवालों की सूची में
सरकार हुई निरुत्तर ।

मान लो यह कविता
बरगढ़ के सुकांत बगर्ती के लिए है
उधार न चुका पाकर
जिसने आत्महत्या कर ली
पीछे छोड़ गया बेसहारा परिवार ।
अभाव या कर्ज नहीं
पारिवारिक समस्या ही कारण है
किसानों की आत्महत्या का
बयान देती है सरकार ।

मान लो यह कविता
सरकार के लिए है
आए दिन शुरू करती है
नई-नई जनकल्याण योजनाएँ
और वोट-बैंक भरने के लिए
करती है मंत्रणा
जो माहिर है क्षतिपूर्ति की घो-णा करने में
प्रेस के सामने, उदास स्वर में ।
वाह ! अंधेरा भी नक्षत्र-सा जगमगा उठता है ।

यह कविता
उसी सरकार के लिए है
जो कहती है, कानून-व्यवस्था चाक-चौबंद
माओ समस्या, महँगाई नियंत्रण में है ।
जो कहती है शिशु और महिलाओं की सुरक्षा में
सदा तत्पर है सरकार
यह प्रदेश गरीबों का है
इसे स्वतंत्र ग्रेड मिलना चाहिए

जो कहती है
स्वच्छ और स्वच्छंद चल रहा है प्रशासन
जनता का स्वार्थ है, हमारा अग्राधिकार ।

खरिनासी की सुजाता हो
या नकटीदेवल गाँव की वनिता
या बरगढ़ का सुकांत बगर्ती ।

क्या ये लोग पूछ सकेंगे
सरकार से, किसने दी हमें अकाल मृत्यु ?

पूछने पर भी सरकार के पास
सिवाय क्षतिपूर्ति-सूची दिखलाने के
होगा भी, कोई दूसरा उत्तर !

पुरु । निर्माण

गायत्रीबाला पंडा

एक नारी
अपने मन का पुरु-न गढ़ते समय
कभी चकित हो उठती है तो
कभी चूर-चूर हो जाती है ।

लाल, नीले, पीले रंगों के ऊन में उलझे
स्वेटर बुनने-सा
विश्वास को चाहत के साथ बुनकर
वह गढ़ती रहती है पुरु-न
अपने आप में डूबी,
लगती है मुग्ध और जीवंत ।

पैरों तले स्थिर मिट्टी
सिर पर स्थिर आकाश
मिट्टी से आकाश तक की दूरी जैसी
अमाप धैर्य से
एक नारी गढ़ती रहती है पुरु-न को
बड़े यत्न से, होकर आत्मविभोर ।

सागर की अनंत जलराशि-जैसे हृदय में
उठते तरंगायित उल्लास से
एक नारी गढ़ती है पुरु-न को
लहरें किनारा छूने-सी लग जरूर रही हैं
वह नारी खुद ही हर बार टकराकर
बिखर जाती है अपने ही भीतर
अंतर्दाह के बीच भँवर में अस्तित्व खोते वक्त भी
बनाती चलती थी मन का पुरु-न
श्रद्धा और समर्पण के सुंदर पैमाने से ।

समय वयस्क होता है
वह नारी जानती है
कभी भी आकार नहीं दिया जा सकता
वांछित पुरु-न को

फिर भी वह
तमाम जिंदगी जुटी रहती है निर्माण में
पर शायद कुछ पुण्य कम पड़ जाता होगा
ठीक विभोर होने लगते ही
कुछ टूटने की आवाज आती है
हकीकत बढ़ जाती है सपने से
बार-बार, हर-बार स्वाभाविक रूप से ।
जो घास-फूस नहीं लग पाए
घरौंदा बनाने में
उन्हीं को लेकर
वह फिर से जुट जाती है निर्माण में
तड़क उठती हैं शिरा-प्रशिराएँ समाज की
समय के गली-गलियारों में बदनामी, कोलाहल
वह नारी स्मित मुस्कान में बदल जाती है केवल ।

एक नारी पुरुन को गढ़ रही है
अपनी छाती तले समय-असमय
दपदपा उठते कंपन में
अपनी आँखों की पुतलियों में उगते रहे
सम्मोहन सूर्य में
चमड़ी के नीचे की अथाह खामोशी में तो
विवेक के घों-घों कोलाहल में ।

एक नारी गढ़ती जा रही है पुरुन को
किसीको भनक न लगने-देने-सी चुपचाप

आत्मा के अभ्यंतर में ।
